वर्ष ३५ अंक ०७ अक्टूबर २०११ मूल्य ५० ०० रूपये

तित्थयर

श्रुत देवता

॥ जैन भवन ॥

Courtesy :

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय,
कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है।

कमल सिंह करनावट
अध्यक्ष

विनोद चंद बोथरा
कोषाध्यक्ष

गौतम दूगड़
सचिव

जैन भवन

पी-२५, कलाकार स्ट्रीट
कोलकाता - ७०० ००७
फोन नं. : २२६८-२६५५, २२७२-९०२८
E-mail : jainbhawan@bsnl.in

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्रिका

वर्ष - ३५ अंक - ७ अक्टूबर २०११

लेख, पुस्तक समीक्षा तथा पत्रिका से सम्बन्धित पत्र व्यवहार के लिय
पता - **Editor : Titthayar, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007**
Phone : 2268-2655, 2272-9028,
Email : jainbhawan@bsnl.in

विज्ञापन तथा सदस्यता के लिये कृपया सम्पर्क करें --
Secretary, Jain Bhawan, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007
Life Membership : India : Rs. 5000.00. Yearly : 500.00
Foreign : $ 500

Published by Dr. Lata Bothra on behalf of Jain Bhawan from P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone : 2268-2655 and printed by her at Arunima Printing Works, 81, Simla Street Kolkata - 700 007 Phone : 2241-1006

संपादन
डॉ. लता बोथरा

॥ जैन भवन ॥

अनुक्रमणिका

क्र. सं.	लेख	लेखक	पृ. सं.
१.	मुगलकाल में जैन धर्म एवं आचाय	नीना जैन	२२१
२.	कुवलय माला		२३४

Composed by:
Jain Bhawan Computer Centre, P-25, Kalakar Street Kolkata - 700 007

अकबर का जैन आचार्यों एवं मुनियों से सम्पर्क तथा उनका प्रभाव

नीना जैन

बादशाह के पूछने पर कि 'ईश्वर एक है या अनेक'? सूरिजी ने बताया कि ईश्वर एक भी है और अनेक भी। संसार से जो व्यक्ति कर्मों का क्षय करके मुक्ति में जाते हैं वह व्यक्ति रूप जानने से ईश्वर अनेक हैं जब संसार से मुक्त होने पर वे सभी आत्माएँ स्वरूप से एक हो जाती हैं तो उस दृष्टि से ईश्वर एक है। ईश्वर का स्वरूप जान लेने से स्पष्ट है कि ईश्वर पुनः संसार में जन्म नहीं लेते क्योंकि उनके सारे कर्म छूट जाते हैं जब सब कर्म छूट जाते हैं तभी यह आत्मा ईश्वर बनती है, ईश्वर की कोई इच्छा नहीं होती, जब इच्छा नहीं होती तो किसी कार्य में प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। इसलिये जैन धर्म के सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर किसी चीज को बनाते नहीं किसी को सुख-दुख नहीं देते। संसार के जीव जो सुख दुख भोग रहे हैं। वे अपने कर्मों के अनुसार भोगते हैं।

यद्यपि ईश्वर की किसी में प्रवृत्ति नहीं होती फिर भी उसकी उपासना करना परम आवश्यक है। उपासना उसकी करनी चाहिए जो इस संसार से मुक्त हो गया हो, फल प्राप्ति का आधार देना लेना नहीं हैं, जिस तरह दान देने वाला जिसे दान देता है उससे नहीं पाता, किन्तु दान देने के समय उसकी सद्भावना ही फल होती है, उसी तरह ईश्वर की उपासना करने के समय जो हमारा अन्तःकरण शुद्ध होता है, वहीं उत्तम फल है, इसलिए ईश्वर की उपासना करना चाहिए। ईश्वर का स्वरूप बताने के बाद सूरिजी ने **गुरु** का स्वरूप इस प्रकार बताया—

गुरू वे ही होते हैं जो पांच महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करते हैं, भिक्षावृत्ति से अपना जीवन

निर्वाह करते है, जो स्वभाव रूप सामायिक में हमेशा स्थिर रहते हैं और जो लोगों को धर्म का उपदेश देते हैं गुरू के इन संक्षिप्त लक्षणों का जितना विस्तृत अर्थ करना ही हो सकता है अर्थात् साधु के आचार्य, विचारों और व्यवहारों का समावेश उपर्युक्त पाँच बातों में हो जाता है। गुरू में दो बातें जो सबसे बड़ी हैं–तो होनी ही चाहिए वे हैं—

1. स्त्री संसर्ग का अभाव।

2. मूर्च्छा का त्याग।

जिसमें ये दो बातें न हो वह गुरु होने या मानने योग्य नहीं होता। इन दो बातों की रक्षा करते हुए गुरु को अपने आचार व्यवहार पालने चाहिए। गुरु के लिए और भी बातें कही गई है वह अच्छे स्वादु और गरिष्ठ भोजन का बार-बार उपयोग न करें, दुस्सह कष्ट को भी शान्ति के साथ सहें, इक्का गाड़ी, घोड़ा, ऊंट, हाथी, और रथ आदि किसी भी तरह के वाहन की सवारी न करे। मन, वचन और काया से किसी जीव को कष्ट न दे, पांचों इन्द्रियां वश में रखे, मान अपमान की परवाह न करे, स्त्री पशु और नपुंसक के सहवास से दूर रहे, एकान्त स्थान में स्त्री के साथ वार्तालाप न करे, शरीर सजाने की ओर प्रवृत्त न हो, यथाशक्ति सदैव तपस्या करता रहें, चलते फिरते उठते बैठते और खाते पीते, प्रत्येक क्रिया में उपयोग रखे, रात में भोजन न करें, मन्त्र, यन्त्रादि से दूर रहें और अफीम वगैरह के व्यंजनों से दूर रहें। ये और इसी तरह अनेक दूसरे आचार साधु और गुरु को पालने चाहिए। थोड़े शब्दों में कहें तो **गृहस्थानां यदभूषणं।** (गृहस्थों के लिये जो भूषण है साधुओं के लिये वहीं दूषण रूप है)।[1]

इस तरह देव, गुरु का स्वरूप जानने के बाद धर्म की उत्पत्ति और धर्म के लक्षण के विषय में पूछा। सूरिजी ने बताया कि जैन धर्म का सिद्धान्त कहता है कि धर्म की कभी उत्पत्ति नहीं होती, धर्म तो

---

1. सूरीश्वर और सम्राट कृष्णलाल वर्मा पृष्ठ 117-118

अनादि काल से चला आया है। धर्म तो धर्मी में उसी प्रकार रहता है जैसे गुण गुणी में रहता है। शास्त्रों के अनुसार **'वस्थु सहावो धम्मो'** अर्थात् जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वहीं उसका धर्म है जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है तो वहीं अग्नि का धर्म है, पानी का स्वभाव शीतलता है तो वहीं पानी का धर्म है। इसी प्रकार आत्मा का धर्म है- सच्चिदानन्दमयता अथवा ज्ञान, दर्शन और चरित्र।

संसार की ऐसी कोई भी चीज जिससे हृदय शुद्ध हो, एवं पवित्रता हो, कर्मों का क्षय हो, आत्मा का विकास हो वह सब धर्म है। दान देना ब्रह्मचर्य पालन करना दूसरे की सेवा करना, अहिंसा और संयम का पालन करना यह सब धर्म है। सार रूप में सूरिजी ने धर्म का लक्षण इस प्रकार बताया—

संसार में अज्ञानी मनुष्य जिस धर्म का नाम लेकर क्लेश करते हैं, जिस धर्म के द्वारा मनुष्य मुक्त बनना और सुख लाभ करना चाहते हैं उस धर्म में क्लेश नहीं हो सकता है। वास्तव में धर्म वह है जिससे अन्तःकरण की शुद्धि होती है (अन्तःकरण शुद्धित्वं धर्मत्वम्) वह शुद्धि चाहे किन्हीं कारणों से हो। दूसरे शब्दों में कहें तो धर्म वह है जिससे विषय वासना से निवृत्ति होती है। (विषय निवृत्तित्वम्) यह धर्म का लक्षण है। दूसरे, इसमें क्लेश की कहाँ अवकाश है? इन लक्षणों वाले धर्म को मानने से क्या कोई इन्कार कर सकता है? कदापि नहीं। संसार में असली धर्म यहीं है और इसी से इच्छित सुख मुक्ति सुख प्राप्त हो सकता है।[1]

प्रथम दिन की भेंट के अन्त में सूरिजी ने बादशाह को आत्मा के स्वरूप के बारे में बताया कि **आत्मा एक शाश्वत स्वतन्त्र द्रव्य है उपादान के अभाव में इसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, जिसकी उत्पत्ति नहीं उसका विनाश भी नहीं है। गीता में कृष्ण ने कहा है जो**

1. सूरीश्वर और सम्राट कृष्णलाल वर्मा पृष्ठ 118-119

नहीं है, वह पैदा नहीं हो सकता। जो है उसका नाश नहीं हो सकता तत्वदर्शियों ने असत् और सत् का यही हार्द माना है।[1]

आत्मा का मुख्य लक्षण ज्ञान है। किसी भी योनि में ज्ञान व अनुभूति शून्य नहीं होती। ज्ञान एक ऐसा लक्षण है जो इसे जड़ पदार्थों से सर्वथा पृथककर देता है। अपने ही अर्जित कर्मों के अनुसार वह जन्म और मृत्यु की परम्परा में चलती हुई नाना योनियों में वास करती है वह सदैव अमर है उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता जैसा कि कृष्ण ने भी कहा है— **जैसे मनुष्य जीर्ण वस्त्रों को उतारकर नवीन वस्त्रों को धारण करता है उसी प्रकार (आत्मा) जीर्ण शरीर को छोड़ती है और नये शरीरों को प्राप्त करती है। आत्मा को शस्त्र नहीं छेद सकते, न उसे अग्नि ही जला सकती है। न उस पर पानी का असर होता है और न ही हवा का अर्थात् पानी उसे आर्द्र नहीं कर सकता और हवा उसे सुखा नहीं सकती।**[2]

आत्मा तो अपने ही पुरुषार्थ से कर्म परम्परा का उच्छेद कर सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेती है जहाँ उसका चिन्मय स्वरूप प्रकट हो जाता है।

आत्मा संकोच-विकोच स्वभाव वाली होती है। उसके असंख्य प्रदेश होते हैं जो सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थान में भी समा जाते हैं और फैलने पर सारे विश्व को भी भर सकते हैं। सकर्म आत्मायें शरीर परिमाण आकाश का अवगाहन करती है। हाथी और चींटी की आत्मा समान है

---

1. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः
   उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः
   श्रीमद्भगवद् गीता अध्याय 2, श्लोक 16
2. वासंसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृहाति नरादपराणि।
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देहि।।
   नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः
   न वैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः।
   श्रीमद्भगवद् गीता ध्याय 2, श्लोक 22-23

अन्तर केवल इतना ही है कि वह हाथी के शरीर में व्याप्त है और वह चींटी के शरीर में। मृत्यु के बाद हाथी की आत्मा यदि चींटी की योनि में आती है तो संकोच स्वभाव से उसके शरीर में पूरी-पूरी समा जाती है उसका कोई अंश बाकी नहीं रह जाता। इसी प्रकार जब चींटी की आत्मा हाथी का भव धारण करती है तो उसकी आत्मा हाथी के शरीर में पूरी तरह व्याप्त हो जाती है। शरीर कहीं खाली नहीं रहता।

प्रत्येक आत्मा कृत कर्मों का नाश कर परमात्मा बन सकती है। समस्त आत्माएं अपने आप में स्वतंत्र हैं वे किसी अखण्ड सत्ता की अंश रूप नहीं है। जन्म मरण शील संसार के उस पार पहुँचना उसका ध्येय है। यह शरीर एक नाव है, जीव नाविक और संसार समुद्र। इसी संसार समुद्र को महर्षिजन पार करते हैं।

बादशाह के पूछने पर कि कर्म मुक्त आत्मा कैसे संस्थान करती है? सूरिजी ने कहा जब आत्मा कर्मों का क्षय कर सर्वथा मल रहित होकर सिद्धि को पा लेती है तब लोक के अग्रभाग पर स्थित होकर वह शाश्वत सिद्ध हो जाती है। जैनागमों में कहा गया है **जो आत्मा है वही विज्ञाता है, वही आत्मा है जो इसे स्वीकार करता है वह पण्डित है, वह आत्मवादी है।**[1]

बादशाह ने पूछा कि सुख दुख क्यों होते हैं? सूरिजी ने बताया सुप्रयुक्त और दुष्प्रयुक्त आत्मा अपने आप ही सुख दुख का कर्ता और विकर्ता है, और अपने आप ही मित्र और अपने आप ही अमित्र है। अयत्नपूर्वक बोलता हुआ जीव प्राणी और भूतों की हिंसा करता है और पाप कर्म बांधता है उसका फल उसे कटु मिलता है।

आत्मा, जीव, चेतन सब एक ही शब्द हैं। आत्मा का मूल स्वरूप सच्चिदानन्दमय हैं। आत्मा ईश्वर की तरह अरूपी है लेकिन ईश्वर और

---

1. ऐ आया से विन्नाया। जे विन्नाया से आया। जेण विजाणति से आया तंपडुच्च परिसंखायए एस आयावादी समियाए परियाए दियाहितेत्तिबेमि आचारांग सत्रम श्रुतस्कन्ध प्रथम पृष्ठ 84-85

आत्मा में इतना ही फर्क है कि ईश्वर निरावरण है और आत्मा आवरण सहित। इन आवरणों को जैन शास्त्र में कर्म कहते हैं। आत्मा के ऊपर कर्म चिपके होने से यह आत्मा नीचे रहती हैं। जैसे तुंबे का स्वभाव तो पानी में तैरने का है यदि उसके ऊपर मिट्टी और कपड़े का लेपकर उसे खूब वजनदार बना दिया जाये तो वहीं तुंबा पानी में तैरने के बजाय डूब जायेगा, ठीक यहीं दशा इस आत्मा की है।

आत्मा के साथ कर्मों का बन्धन होने से ही आत्मा को परिभ्रमण करना पड़ता है। जैन धर्म के अनुसार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है। अनादिकाल से आत्मा के साथ राग-द्वेष लगा हुआ है, लेकिन जिस प्रकार खान में माटी और सोना मिले होने पर भी उसे प्रयोगों द्वारा अलग-अलग किया जा सकता है। कर्म और आत्मा अलग होने से आत्मा अपने असली शुद्ध स्वरूप में आ जाती है। इस तरह बादशाह ने सूरिजी के मुख से देव, गुरु, धर्म और आत्मा के विषय में ज्ञान प्राप्तकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

अगले दिन बादशाह ने अहिंसा और दया पर सूरिजी से चर्चा की। अहिंसा के बारे में बताते हुए सूरिजी ने कहा अहिंसा जैन धर्म का मूल तत्व है। जो कोई प्राणी हिंसा करता है, वह नरक में जाता हैं। चार कारणों से जीव नरक योग्य कर्म बांधता है। महारम्भ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय वध और मांसाहार। हिंसा अथवा मांसाहार तो दूर उससे सम्बन्धित पुरुष भी जैन शास्त्रों में पाप का भोगी बताया गया है। मारने वाला, माँस खाने वाला, पकाने वाला, बेचने वाला, खरीदने वाला, अनुमति देने वाला तथा दाता ये सभी घातक हैं।

मनुस्मृति में भी लिखा है कि **सम्मति देने वाला, काटने वाला, मारने वाला, मोल लेने और बेचने वाला, पकाने वाला, लाने वाला और खाने वाला ये घातक होते हैं[1] अतः हे राजन् मन वचन और काया**

1. अनुमन्ता विशर्सिता, निहन्ता, क्रय विक्रयी।
संस्कर्ता, चोपहर्ता, च खादकश्चेति घातकः
मनुस्मृति-पण्डित रामेश्वर भट्ट अध्याय 5 श्लोक 51

में से किसी एक के द्वारा भी किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। नित्य अहिंसा व्यापार बर्तना उचित हैं। ज्ञानी के ज्ञान का सार यह है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता।

एक यह भी विचार करने की बात है कि एक पक्षी को मारने वाला एक ही जीव का हिंसक नहीं है किन्तु अनेक जीवों का हिंसक है, क्योंकि जिस पक्षी की मृत्यु हुई है यदि वह स्त्री जाति है और उसके छोटे-छोटे बच्चे है तो वे मां के मर ज़ाने से क्या जिन्दा रह सकते हैं, कभी नहीं। एक और सोचने की बात है कि खुदा दुनियां का पिता है तब दुनियां के बकरी, ऊंट, गौ वगैरह सभी प्राणियों का वह पिता हुआ तो फिर वह खुदा अपने किसी पुत्र के मारने में खुश किस तरह होगा? अगर हो तो उसे पिता कहना उचित नहीं। इसलिए बकरा ईद के रोज जो मुसलमान लोग हिंसा करते हैं वे कितना अत्याचार करते हैं।[1]

क्योंकि जो पुरुष अपने सुख की इच्छा से अहिंसक प्राणियों को मारता है वह जीता हुआ और मरा हुआ कहीं भी सुख नहीं पाता है।[2]

महाभारत के अनुशासन पर्व में शंकरजी पार्वतीजी की शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि जो पराये मांस से अपने मांस को बढ़ाना चाहता है वह जहां कहीं भी जन्म लेता है वहीं उद्वेग में पड़ा रहता है।[3]

मनुष्य विविध प्राणों की हिंसा में अपने अनिष्ट देख सकने में समर्थ है और उसका त्याग करने में समर्थ है। जो मनुष्य अपने दुख

---

1. जेंगदगुरूहीर–मुमुछु भव्यानन्द विजय पेज 73।
2. 1. यो हिंसकानि भूनानि हिंनस्त्यात्मसुसेच्छया
   स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेंधते।।
   मनुस्मृति पण्डित रामेश्वर भट्ट उपाध्याय 5 श्लोक 45
3. स्वमांस परमांसेन, यो वर्ध यतुमिच्छति
   उद्विग्नवांस लभते लभते यत्र यत्रोपजायते
   महाभारत–भाग 6 अनुशासन पर्व पृष्ठ 5990

को जानता है वह बाहर के दुख को भी जानता है, जो बाहर का दुख जानता है वह अपने दुख को भी जानता है। शांति प्राप्त संयमी-असंयमी जीवन की इच्छा नहीं करते। वे तो धर्म का विचार कर पाप को दूर से ही इस तरह छोड़ देते हैं जिस तरह मृगादि अटवी में विचरने वाले जीव सिंह से सदा भयभीत रहते हुए एकान्त में चरते हैं। जगत के हर प्राणी को अपने समान ही समझना चाहिए। आचारांग सूत्र में भी कहा है— 'हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है वह तेरे ही जैसा सुख-दुख का अनुभव करने वाला प्राणी है, जिसे दुख देने का विचार करता है, विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है, जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है'।

सत्पुरुष इसी तरह विवेक रखता हुआ, जीवन बिताता है, न किसी को मारता है और न किसी का घात करता है।

जो हिंसा करता है, उसका फल वैसा ही पीछे भोगना पड़ता है, अतः वह किसी भी प्राणी की हिंसा करने की कामना न करे।[1]

इन विचारों की पुष्टि महाभारत से भी होती है **जैसे अपने मांस को काटना अपने लिए पीड़ाजनक होता है, उसी तरह दूसरे का मांस काटने पर उसे भी पीड़ा होती है। यह प्रत्येक विज्ञपुरुष को समझना चाहिए।**[2]

---

1. तुमंसि नाम तचेव, ज हतव्वति मत्रसि। तुमसि नाम तं चेत जां अज्जा-वेयव्वति मन्नसि। तुमंसि नामत चेव, चं परितावेयव्वंति मन्नसि। तुमंसि नाम तंचेव जं परिश्वेतव्वंति मन्नसि। एवं तुमंसि नाम चंतेव, जं उद्दवेयव्वंति मन्नसि। अजूं चेयपडिबुद्धजीवी तम्हा हंता, णविधाए, अणुसंवेयण–मप्पाणेणं, जं जंतव्वं णाभिपत्थए।
   आचारांग सूत्रम् श्रुतस्कंध प्रथम पृष्ठ 84 पर
2. संछेदन स्वामांसस्य यथा संजनयेद् रूजम्।
   तर्पै व परमांसेऽपि वेदतिव्यं विजानता।।
   महाभारत भाग 6 अनुशासन पर्व पृष्ठ 5990

वैसे भी देखा जाये तो जितने मांसाहारी प्राणी हैं उन सभी के स्वभाव और मनुष्य जाति के स्वभाव में बहुत अन्तर है। सिंह, बाघ, कुत्ते आदि मांसाहारी प्राणी हैं ये सब जीभ द्वारा पानी पीते हैं, क्या मनुष्य भी इस प्रकार पानी पीता है? नहीं। मांसाहारी प्राणियों के दांत स्वभावित ही टेढ़े वक्र होते हैं जबकि मनुष्य के दांत वैसे नहीं होते। मांसाहारी प्राणियों की जठराग्नि इतनी तेज होती है कि उनको मांस का पाचन हो जाता है, मनुष्यों की जठाराग्नि वैसी नहीं होती। सच बात तो यह है कि मांस खाने वाले मनुष्यों का पेट, पेट नहीं है किन्तु एक प्रकार का कब्रिस्तान है। मरे हुए जीवों को पेट में डालना इसका नाम कब्रिस्तान नहीं तो और क्या है?

तात्विक दृष्टि से देखा जाये, तो मांसाहारी करने वाला मनुष्य इतना अपवित्र होता है कि वह किसी प्रकार की धर्मक्रिया करने के योग्य हो ही नहीं सकता क्योंकि सभी दर्शनकारों का, धर्मानुयायिओं का यह नियम है कि जब तक शरीर में अपवित्रता हो तब तक उससे किसी प्रकार की धर्मक्रिया नहीं हो सकती। पातक विचार जो कि सब धर्म वालों को मान्य है उसका यह नियम है कि यदि धर्म स्थान के नजदीक किसी जानवर का कलेवर पड़ा हो तो उस धर्म स्थान में भी तब तक धर्म क्रिया नहीं हो सकती जब तक उस मृत कलेवर को वहां से न हटाया जाये। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय हैं कि जो मनुष्य मांस भक्षण करते हैं वे प्रभु भक्ति या अन्य किसी प्रकार की धर्म क्रिया करने का अधिकार कैसे रख सकते हैं। शास्त्रकारों का तो कथन है कि– **'मृत स्पृशेत् स्नानमाचरेत्।'** मुर्दे को छुओ तो स्नान करो। अब जो मनुष्य मांस खाता है वह मुर्दे को ही पेट में डालता है, तब फिर वह स्नान कैसे करेगा? और स्नान करने से उसकी शुद्धि भी कैसे होगी? यदि पवित्रता न होगी तो ईश्वर भक्ति, संध्या, जप, अर्थात् धार्मिक क्रियाएं कैसे करेगा? इस बात को गुरुनानक साहब ने भी **'गुरु ग्रंथ साहब'** में इस प्रकार कहा है कि **'कपड़े पर खून का दाग पड़ने से शरीर अपवित्र माना जाता है तो यहीं खून पेट में जाने**

से चित्त निर्मल कैसे हो सकता है।'[1] बाहर की अपवित्रता, खून का दाग तो पानी से भी दूर हो सकता है, परन्तु हृदय की अपवित्रता पानी से दूर नहीं हो सकती। अतः आत्मकल्याण चाहने वालों को तो मांसाहार से सर्वथा दूर ही रहना चाहिए।

यह कथन न केवल हिन्दुओं अथवा मुसलमानों के लिए अपितु समस्त मांसाहारियों के लिए हैं क्योंकि प्रायः सभी धर्म वाले अपने-अपने शास्त्रों में दिखलायी हुई धर्मक्रिया करते ही हैं। मुसलमान नमाज पढ़ने के लिए कपड़े शुद्ध रखते हैं, हाथ-पैर धोते हैं इस प्रकार बाहर की शुद्धि तो हो जाती है, किन्तु मांस के आहार से अन्तःकरण की शुद्धि कैसे हो? जरा इस पर भी विचार करके देखें।

इस तरह सूरिजी ने अहिंसा के बारे में विस्तार से वर्णन किया तथा अकबर की शंकाओं का समाधान भी किया। अन्त में अहिंसा का सार बताते हुए सूरिजी ने बताया कि अहिंसा सब प्राणियों का हित करने वाली माता के समान है और अहिंसा ही सार रूप मरू देश में अमृत की नाली के तुल्य है तथा दुख रूप दावानल को शान्त करने के लिए वर्षाकाल की मेघ पंक्ति के समान हैं और भव भ्रमण रूप महारोग से दुखी जीवों के लिए परम औषधि की तरह है अहिंसा समस्त व्रतों में भी मुकुट के समान है।

अहिंसा के फल का वर्णन करने में जुबां तो समर्थ हो ही नहीं सकती। महाभारत में भी कहा है— **हे कुरुपुंगव! अहिंसा के फल का कहां तक वर्णन करें, यदि कोई मनुष्य सौ वर्ष तक उसका वर्णन करे तो भी सम्पूर्ण रीति से वह कहने के लिए समर्थ नहीं हो सकता।**[2]

---

1. जे रत्त लग्गे कप्पड़े, जामा होय पलीत्त
   जो रत्त पीवें मानसा, तिन कियो मिर्मल चित्त
   गुरु ग्रन्थ साहब—पृष्ठ 140
2. एतत् फलम्हिंसाया भूयश्च कुरुपंगव
   न ही शक्या गुणा वक्तमुपि वर्षशतैरषि।
   महाभारत—भाग 6 अनुशासन पर्व पृष्ठ 5862

आगे जैन धर्म में दया के महत्व को बताते हुए सूरिजी ने बताया कि **'धमस्त जननी दया'** धर्म की माता दया हैं। सूरिजी ने अहिंसा और दया में अन्तर स्पष्ट करते हुए बादशाह को कहा कि **किसी को तकलीफ नहीं देना, मारना नहीं, सताना नहीं, उसके दिल में चोट पहुंचाना नहीं, यह अहिंसा है लेकिन इस अहिंसा का पालन कौन करेगा? जिसके हृदय में दया होगी वहीं। इसलिए 'दया' यह अन्तःकरण के भावों का नाम है। दुखी को देखकर के अपने हृदय में दर्द होना, यह दया है। अथवा मेरे इन शब्दों से दूसरों को दुख होगा ऐसा विचार होना उसी का नाम दया है। इस तरह अहिंसा और दया पर सूरिजी के विचार सुनकर बादशाह उनके प्रति जन्म—जन्मान्तर के लिए आभारी हो गया।**

तत्पश्चात् बादशाह और सूरिजी के बीच धार्मिक चर्चा हुई जिसका विस्तृत विवरण हीर सौभाग्य काव्य के सर्ग 13 एवं 14 में मिलता है। इस चर्चा से बादशाह को विश्वास हो गया कि सूरिजी कोई असाधारण महापुरुष है इसलिए उसने सूरिजी से पूछा—**मेरी मीन राशि में शनिचर की दशा बैठी है लोगों का कहना है कि यह दशा बहुत कष्ट देने वाली होती है आप ऐसी कृपा करे जिससे यह दशा मिट जाये। इस पर सूरिजी ने कहा यह ज्योतिष का विषय है जबकि मेरा विषय धर्म है इसलिए मैं इस विषय में कुछ भी कहने में असमर्थ हूँ। बादशाह ने कहा आप मुझे कोई ऐसा ताबीज, यन्त्र मन्त्र दो जिससे मुझे इस ग्रह से शान्ति मिले, सूरिजी ने कहा, वो भी हमारा काम नहीं है। आप सब जीवों पर रहम नजर कर अभयदान दोगें तो आपका भला होगा निसर्ग का नियम है कि दूसरे की भलाई करने वालों की अपनी भलाई होती। इस तरह बहुत अनुनय, विनय करने पर भी जब सूरिजी अपने आचार के विपरीत कार्य करने को तैयार न हुए तो बादशाह बहुत प्रसन्न हुए।**

सूरिजी के चरित्र और पांडित्य का बादशाह पर गहरा प्रभाव पड़ा। बादशाह के पास पदमसुन्दर नामक साधु का ग्रन्थालय था

उसने सूरिजी से उन पुस्तकों को ग्रहण की प्रार्थना की। सूरिजी ने मना किया मगर बादशाह के बहुत आग्रह करने पर पुस्तकें लेकर अकबर के नाम से आगरा में पुस्तकालय की स्थापना कर उन पुस्तकों को वहां रख दिया।[1] सूरिजी ने कहा जब हमें पुस्तकों की जरूरत होगी, तब हम पुस्तकें मंगवा लेगें। सूरिश्वरजी का ऐसा त्याग देखकर बादशाह के मन पर बहुत प्रभाव पड़ा।

इस तरह बादशाह और सूरिजी की प्रथम, भेंट समाप्त हुई, तत्पश्चात् सूरिजी चातुर्मास के लिए आगरा पधारें। पर्युषण के दिन निकट आने पर आगरा के प्रमुख श्रावक सूरिजी की सम्मति ले पर्युषणों में जीव हिंसा बन्द कराने के लिए बादशाह के पास गये। बादशाह ने पूछा कि सूरिजी ने मेरे लिए कोई आज्ञा दी है तो श्रावकों ने कहा कि बादशाह ने पर्यूषणों में जीव हिंसा बन्द करने के लिए निवेदन किया है। बादशाह ने आठ दिन तक हिंसा बन्द रहे इस बात का फरमान लिख दिया। सम्वत् 1639 (सन् 1582) के पर्यूषण के आठ दिनों के लिए यह घोषणा हुई थी[2] हीर सौभाग्य काव्य और जगद्गुरू काव्य में इसका उल्लेख नहीं है। कल्याण विजयजी की तपागच्छ पट्टावली में इन आठ दिनों का विवरण मिलता है।[3]

सम्वत् 1639 (सन् 1582) का चातुर्मास पूर्ण होने पर सूरिजी शौरीपुर की यात्रा करके पुनः आगरा गये। इसी समय की भेंट में बादशाह ने सूरिजी से अपने कल्याण के लिए कोई सेवा याचना की। सूरिजी जो उद्देश्य लेकर गन्धार से चले थे उसे पूरा करने के लिये हमेशा अवसर की तलाश में रहते थे। इस समय भी सुअवसर देखकर सूरिजी ने बादशाह से पिंजड़ों में बन्द पक्षियों को मुक्त करने के लिए

---

1. विजयप्रशस्ति काव्य—पण्डित हेमविजयगणि सर्ग 9 श्लोक 42
2. सूरीश्वर और सम्राट—कृष्णलाल वर्मा पृष्ठ 123
3. तपागच्छ पट्टावली—कल्याण विजयजी पृष्ठ 232

कहाः बादशाह ने सूरिजी के इस अनुरोध का पालन किया और साथ ही फतेहपुर साकरी के डाबर तालाब में मछलियां न पकड़ने का हुक्म जारी किया। इस बात का उल्लेख **हीरविजय सूरिरास,** भानुचन्द्र गणिचरित और जैन एतिहासिक गुर्जर काव्य संचय में भी मिलता है[1]

हीरसौभाग्य काव्य में देवविमल गणि ने भी इनकी पुष्टि की है कि डाबर तालाब जो अनेक प्रकार की मछलियों से भरा हुआ था, मछलियां पकड़ने का निषेध कर दिया।[2]

किन्तु हीरसौभाग्य में इस पद्य की टीका में श्रीदेव विमलजी ने ही प्रेरणा स्वरूप श्री शान्तिचन्द्रजी का नाम लिखा है, स्वयं शान्तिचन्द्र मुनि ने अपने **कृपारस कोष** नामक काव्य में श्री हीरविजयसूरि जी की प्रेरणा से किये गये अकबर के सत्कार्यों की गणना प्रसंग में ही डाबर सरोवर में मीनों के अभयदान का वर्णन किया हैं।[3]

क्रमशः

---

1. हीरविजयसूरिरास— प. ऋषभदास पृष्ठ 128, ढाल पाँचवी,
   भानुचन्द्रगणिचरित–भूमिका लेखक अगरचन्द्र भंवरलाल नाहटा पृष्ठ 7,
   जैन एतिहासिक गूर्जर काव्य संचय श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर पृष्ठ 7,
2. हीरसौभाग्य काव्य सर्ग 14, श्लोक 195
3. कृपारस कोष–शान्तिचन्द्रगणि श्लोक 110

कुवलय माला

श्री केवल मुनि

मुझसे तो वही भाग्यशालिनी है जो महेन्द्रकुमार जैसे पुत्र की माँ बनी है। —रानी अपनी झौंक में कह गई।

राजा दृढ़वर्म को अपने कर्तव्य का भान हुआ। पत्नी को सांत्वना देना आवश्यक था। उसने अपने मन के दुःख को मन ही में रोका और मधुर स्वर में बोला—

पुत्र का होना, न होना तो भाग्याधीन है। इसका क्या उपाय है?

उपाय शब्द सुनते ही रानी की नारी-सहज बुद्धि जाग उठी। उसने कहा—

प्राणनाथ! उपाय तो बहुत हैं, यदि आप.....

रानी ने बात अधूरी छोड़ दी और पति के मुख की ओर देखने लगी। पति ने आश्वासन देते हुए कहा—

रुक क्यों गई? बात पूरी करो। क्या उपाय हो सकते हैं? मुझे बताओ। मैं अवश्य करूँगा।

संसार में जोग-जोगिनी, यंत्र-मंत्र, औषधि आदि अनेक उपाय हैं। किसी देवी-देवता की आराधना करके वरदान भी प्राप्त किया जा सकता है। नाथ! आप सब समर्थ हैं। किसी भी उपाय से मेरी गोद भर दीजिए। कहते-कहते रानी प्रियंगुश्यामा पति के चरणों में गिर गई।

राजा ने पत्नी को प्रेम से उठाया और पार्श्व में बिठाकर विश्वास दिलाया—

प्रिये! मैं अवश्य उपाय करूँगा। तुम शोक त्यागो और प्रसन्नचित्त होकर रहो।

रानी को विश्वास हो गया। मुख पर मुस्कराहट फैल गई।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही राजा ने वृहस्पति आदि अपने मंत्रियों को एकान्त में बुलवाया और उनसे पूछा—

मंत्रियों! पुत्र-प्राप्ति के लिए कौन-सा उपाय करें?

मंत्री बुद्धिमान थे। वह सब समझ गये। अपनी-अपनी धर्म परम्परा और बुद्धि के अनुसार उपाय सुझाने लगे। एक ने कहा—

कात्यायनी देवी की उपासना करनी चाहिए।

दूसरे ने बात काटकर अपना सुझाव दिया—

कात्यायनी को तो मांस-मदिरा का भोग लगाना पड़ेगा। श्मशान में जाकर वैतालसिद्धि करना उचित है।

वैतालसिद्धि के लिए भी तो एक सर्वलक्षण सम्पन्न कुलीन पुरुष की बलि देना आवश्यक है। यह उपाय अनुचित है। इससे तो दुर्गा की उपासना सरल है। तीसरे ने कहा।

दुर्गा शक्ति की देवी है, उसका पुत्र-सन्तान से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। चौथे ने बात ही काटी किन्तु सुझाव नहीं दिया।

राजा ने प्रधान अमात्य की ओर देखा। वह अब तक चुपचाप बैठा था। राजा का संकेत समझकर वह बोला—

राजन्! इन सभी देवी-देवताओं की उपासना-विधि हिंसामय है और साधक को भी प्राणों का भय रहता है। मेरी राय में तो आप एकाग्रचित्त से अपनी कुलदेवी राज्यश्री की आराधना करके उससे वरदान प्राप्त कीजिए। कुलदेवी होने के कारण वह आपका अनिष्ट तो करेगी ही नहीं, उसकी आराधना विधि भी अहिंसक ही है और प्रसन्न होने पर आपको पुत्र की प्राप्ति भी हो जायेगी। उसे प्रसन्न करने के लिए केवल एक ही बात की आवश्यकता है और वह है एकाग्रचित्त।

राजा को यह सलाह उचित लगी। उसने कहा—

मंत्री! तुम्हारी बुद्धि निर्मल है। तुमने सर्वथा उचित उपाय बताया है। और यह तो सत्य है ही कि हृदय की एकाग्रता और दृढ़ता के अभाव में कभी भी और किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

राजा उठ खड़ा हुआ। मंत्री अपने-अपने घरों की ओर चले गए।

शुभ मुहूर्त और नक्षत्र में दानादिक धर्मक्रियाओं के बाद मन-वचन-काय से शुद्ध होकर, एक श्वेत वस्त्र धारणकर, कुशासन पर बैठकर कुलदेवी के आयतन में राजा देवी की उपासना करने लगा। उसने देवी से प्रार्थना की— हे देवी! तीन रात के अन्दर-अन्दर या तो मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करो अन्यथा मेरी भेंट स्वीकार करो। ऐसा दृढ़ निश्चय कर राजा दृढ़वर्म देवी के ध्यान में लीन हो गया।

राजा को ध्यान करते हुए दो दिन व्यतीत हो गए। दोनों रात्रियाँ यों ही गई; देवी ने दर्शन नहीं दिए। तीसरी रात्रि का भी जब चौथा प्रहर बीत गया और उषा की लालिमा फैलने लगी तो दृढ़वर्म अपनी असफलता पर कुपित हो उठा। उसने पार्श्व में रखी तलवार उठाई और बोला—

देवी! तुमने मुझे दर्शन नहीं दिए, तो अब मेरी भेंट ही स्वीकार करो।

राजा ने तलवार वाला हाथ ऊपर को उठाया और अपनी गरदन पर प्रहार करने को उद्यत हुआ। उसी समय उसका हाथ स्तम्भित हो गया। अचकचाकर उसने दृष्टि उठाकर देखा तो सामने कमलासन पर विराजमान कुलदेवी राज्यश्री उपस्थित थी। राजा का हाथ नीचा हो गया और उसकी दृष्टि झुक गई। अंजलि बाँधकर उसने कुलदेवी को नमन किया।

मुस्कराकर कुलदेवी ने पूछा—

शूरवीर राजा दृढ़वर्म को आत्मघात की आवश्यकता क्यों आ पड़ी?

मैंने तीन दिन-रात उपवास पूर्वक आपकी उपासना की किन्तु आपने दर्शन नहीं दिये.....

और दृढ़हृदय दृढ़धर्म तीन दिन की उपासना से ही घबरा गया, निराश हो गया और आत्महत्या का विचार कर बैठा। क्या मैं आत्मघात से प्रसन्न हो जाती?

असफलताजन्य क्रोध ने मेरा विवेक कुण्ठित कर दिया था। भगवती! अपनी रानी को इस असफलता का समाचार कैसे सुनाता?

रानी को? क्या रानी के लिए तुमने मेरी आराधना की थी?

हाँ! मैं अपुत्र हूँ, मुझे एक पुत्र दे दो, माता! मेरी रानी की भी प्रबल आकांक्षा है।

एक पुत्र तुम्हें समर्पण किया तो है। फिर तुम अपुत्र कैसे हो?

देवी! मुझे अपना पुत्र चाहिए—मेरा आत्मज और मेरी रानी प्रियंगुश्यामा का अंगजात।

देवी ने हाथ उठाकर वरदान दिया—

राजन्! रूप में कामदेव, दान में कुबेर और युद्ध में इन्द्र के समान तुम्हारे कुल की कीर्ति को फैलाने वाला एक पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा।

पुत्र-प्राप्ति का वरदान पाकर राजा हर्षित हो गया। उसने हाथ जोड़कर देवी को नमन किया।

देवी अन्तर्धान हो गई और राजा प्रसन्नमन देवी के आयतन से बाहर आया। उसने गुरुजनों को प्रणाम किया और दास-दासी तथा दीन याचकों को दान से सन्तुष्ट किया।

इसके पश्चात् राजा दृढ़वर्म रानी प्रियंगुश्यामा के कक्ष में पहुँचा और उसे देवी के वरदान का शुभ समाचार सुना दिया। रानी बहुत ही सन्तुष्ट और प्रसन्न हुई।

कुछ दिनों के पश्चात् रानी प्रियंगुश्यामा ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में अपनी सुख-शय्या पर सोते हुए एक स्वप्न देखा—कमलों को प्रफुल्लित करता हुआ और सम्पूर्ण जगत को अपनी ज्योत्सना से, दूधिया रोशनी से आप्लावित करता हुआ पूर्ण और निष्कलंक—जिसके चारों ओर मानों सुगन्धि से आकर्षित हुए भ्रमर-समूहों की गुंजारव करती हुई पंक्ति हो, इस प्रकार कुवलय[1] से आवृत्त पूर्ण चन्द्र रानी के मुख में होकर उदर में प्रवेश कर गया।

उसी समय प्रातःकाल की सूचना देने वाली भेरी का शब्द हुआ। रानी की निद्रा भंग हो गई। नित्यकर्मों से निपटकर रानी प्रियंगुश्यामा अपने पति के पास पहुँची और स्वप्न सुनाकर उसका फल जानने की इच्छा प्रकट की। राजा ने स्वप्नशास्त्रियों से पूछकर फल बताने का आश्वासन दिया।

राजसभा में राजा ने मंत्रियों को रानी का स्वप्न सुनाकर पूछा-

मंत्रियों! आज रात्रि को महारानी ने कुवलय माला के आलिंगन में बँधा हुआ पूर्ण और निष्कलंक चन्द्र स्वप्न में देखा है। इसका फल क्या होगा?

स्वप्नशास्त्र के ज्ञाता एक मंत्री ने उत्तर दिया—

सूर्य, चन्द्र, वृषभ, हस्ती, सिंह आदि के स्वप्न महापुरुषों के गर्भ में आने के सूचक होते हैं। महारानी वीर-पुत्र की माता बनेंगी।

यह तो कुलदेवी ने ही वरदान दे दिया था। मैं तो कुवलय माला से आलिंगित चन्द्र दर्शन का फल पूछ रहा हूँ।

कुवलय माला का एक फल यह भी हो सकता है कि महारानी के पुत्री हो.....

---

१. कुवलय एक काले रंग के घेरे को कहा जाता है। रानी ने चन्द्रबिम्ब के चारों ओर एक श्यामवर्णी वृत्त देखा था। श्यामवर्णी होने के कारण ही इसे कुवलय कहा गया है।

तभी राजसभा में उपस्थित दूसरे स्वप्नशास्त्री ने बीच में ही बात काटकर कहा—

यदि कुवलय माला पृथक् दिखाई पड़ती तभी पुत्री होने की सूचक बनती। यहाँ तो कुवलयमाला ने चन्द्र को आलिंगन में ले रखा है। अतः यह तो कुमार की भावी पत्नी की सूचक है।

कैसी होगी मेरी पुत्रवधू? राजा दृढ़वर्म को पुत्र उत्पन्न होने से पहले ही पुत्रवधू के गुणशील के प्रति जिज्ञासा हो उठी।

महाराज! कुमार की भावी पत्नी पूर्व जन्म के स्नेहवाली, कमल जैसे सुन्दर शरीर वाली और भ्रमरों के गुंजारव के समान कीर्ति वाली होगी। कुवलय माला से आलिंगित चन्द्र का यहीं फल होता है।

राजा को यह कथन युक्तियुक्त लगा। उसने कहा—

तुम्हारा कथन ही सत्य प्रतीत होता है।

अपने स्वप्न का फल और स्वयं को गर्भवती जानकर रानी प्रियंगुश्यामा अति हर्षित हुई। वह यत्नपूर्वक गर्भ का पालन करने लगी।

गर्भकाल में रानी को किमिच्छित् दान[1] देने का दोहद उत्पन्न हुआ। राजा ने अपनी पत्नी का यह दोहद भी पूरा किया।

गर्भकाल पूरा होने पर शुभ लग्न में, जिस समय सभी ग्रह अपनी उच्च राशियों पर थे, रानी ने एक परम तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया।

राजा दृढ़वर्म ने पुत्र जन्म का उत्सव बड़े धूम-धाम से मनाया। दास-दासियों को प्रभूत पुरस्कार मिला और याचकों को दान। नगरी दुलहिन की तरह सजा दी गई। प्रजा भी युवराज को पाने की खुशी में फूली नहीं समा रही थी। महीनों तक आनन्द उत्सव होते रहे। राजा और प्रजा सभी आनन्द में निमग्न थे।

---

१. किमिच्छित् दान का अर्थ यह है कि याचक जो कुछ भी माँगे उसे वही मिले। दूसरे शब्दों में दाता की इच्छानुसार नहीं वरन् याचक की इच्छानुसार दान **किमिच्छत् दान** कहलाता है।

स्वप्न के अनुसार शिशु का नाम कुवलयचन्द्र रखा गया और देवी राज्यश्री के वरदान से प्राप्त होने के कारण इसका दूसरा नाम श्रीदत्त रखा गया।

शिशु कुवलयचन्द्र धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होने लगा। शिक्षा योग्य वय हो जाने पर उसे कलाचार्य के पास भेज दिया गया। युवावस्था आते-आते कुवलयचन्द्र पुरुषोचित्त सभी ७२ कलाओं और विद्याओं में निपुण हो गया।

अपने योग्य पुत्र को देखकर माता-पिता बहुत ही प्रफुल्लित थे। उनके आनन्द की कोई सीमा न थी।

कुवलयचन्द्र का हरण :

एक दिन राजा दृढ़वर्म ने अपने पुत्र कुवलयचन्द्र के अश्व-ज्ञान की परीक्षा लेने का विचार किया। उसने कुमार को बुलाकर अश्वों की विभिन्न जातियों एवं उनके स्वभाव तथा गुण-दोषों के बारे में पूछा। राजकुमार कुवलयचन्द्र ने पिता के सभी प्रश्नों का उचित उत्तर दिया। संतुष्ट होकर पिता ने कहा—

पुत्र ! तुमने अश्वों के लक्षण और गुण-स्वभाव तो बिलकुल ठीक बताए हैं। अब हमारे साथ अश्व-क्रीड़ा हेतु चलो....।

जैसी पिताजी की आज्ञा। कहकर कुमार कुवलयचन्द्र तैयार हो गया।

महाराज की आज्ञा से अश्व-पालक ने घोड़े तैयार किये। पवनावर्त अश्व पर स्वयं राजा दृढ़वर्म आरूढ़ हुए और जलधिकल्लोल पर कुमार कुवलयचन्द्र। कुमार महेन्द्र को गरुड़वाहन अश्व मिला तथा अन्य सुभटों को भी यथायोग्य अश्व दिये गये।

सभी सुभट, राजा और राजकुमार के साथ अश्वारूढ़ होकर चल दिए। नगर में अश्व अपनी मन्द और मदमाती चाल से चलते रहे। घरों के झरोखों में से स्त्रियों और दुकानों पर से पुरुष इन सवारों को

दख रहे थे। सबकी दृष्टि कुमार कुवलयचन्द्र पर ही जमकर रह जाती थी। उसका रूप ही ऐसा लुभावना था।

नगर की सीमा पार हुई, वन आया। पिता ने पुत्र को अश्वक्रीड़ा का कमाल दिखाने को उकसाया। कुमार भी कौन-सा कम था। उसने भी पिता को अश्व की विभिन्न चालें दिखलाई—कभी दुलकी तो कभी सरपट; कभी मन्दगति तो कभी तीव्र; कभी सीधी तो कभी वक्र। पिता और पुत्र दोनों में बाजी सी लग गयी। दोनों ही एक दूसरे को अपनी-अपनी कुशलता दिखलाते रहे।

अन्त में बाजी लगी दौड़ की। पिता ने पुत्र से कहा—

देखें कौन बिना थके अश्व को अधिक समय तक दौड़ाता है।

पुत्र ने शर्त स्वीकार कर ली। दोनों ने अपने घोड़े सरपट छोड़ दिये। अश्व भी मानों अपने सवारों के मनोभावों को जानते थे। जी तोड़कर दौड़ने लगे। कभी पिता का अश्व आगे निकल जाता तो कभी पुत्र का। दोनों में से किसी को न दिशा का ज्ञान रहा और न समय का। पहर भर में ही पुत्र का अश्व न जाने कितनी दूर निकल गया। विरल वन से सघन वन आरम्भ हो चुका था। पुत्र ने पीछे की ओर दृष्टि घुमाकर देखने का प्रयास किया—

चारों ओर सघन और बीहड़ वन! पिता का कहीं पता नहीं। न कोई मार्ग और न पगपथी (पगडंडी)। चारों ओर वृक्ष! वृक्ष!! वृक्ष!!! सघन और पत्तेदार वृक्ष! अभी कुमार असमंजस में ही था कि किस दिशा में लौटूँ तभी एक चमत्कार हुआ—अश्व जमीन से उठा और आकाश में उड़ने लगा।

चकित रह गया कुवलयचन्द्र! यह क्या? भूमि पर चलने वाला साधारण पशु; पक्षियों की भाँति गगनविहारी कैसे हो गया? घोड़े की पीठ पर मानों चिपक ही गया वह। उसने अश्व को भूमि पर लाने के अनेक प्रयास किये; परन्तु सब विफल! घोड़ा सवार को किसी अनजानी

दिशा में, अनबूझ मंजिल की ओर उड़ाए लिए जा रहा था। जब कुवलयचन्द्र के सभी प्रयास विफल हो गए तो उसने अपनी कमर से कटारी निकालकर घोड़े के कुक्षि प्रदेश में निर्दयतापूर्वक मारी। कटार का वार गहरा हुआ। खून बहने लगा। घोड़ा शिथिल पड़ने लगा। निर्बल होकर तीव्रगति से भूमि की ओर गिरने लगा।

असावधान नहीं था कुमार। ज्यों ही उसने छलाँग लगाने योग्य भूमि की दूरी देखी त्योंही घोड़े की पीठ पर से छलाँग लगा दी। घोड़ा और सवार दोनों ही भूमि पर गिरे। एक के प्राण पखेरू उड़ गए और दूसरा जीवित बच गया—सही सलामत, शरीर पर एक खरोंच भी नहीं।

घोड़े को मृत देखकर कुमार सोचने लगा—यदि यह साधारण अश्व था तो उड़ा कैसे और अगर देव माया थी तो मरा क्यों? किन्तु इस प्रश्न का समाधान ही क्या था? उसकी शंका मन में ही घुमड़ती रही; तभी उसके कानों में आवाज आई—

हे निर्मल चन्द्रवंश के विभूषण कुमार कुवलयचन्द्र! इस स्थान से दक्षिण दिशा की ओर जाने पर तुम्हें दिव्य दर्शन होंगे।

कुमार ने चारों दिशाओं में देखा, विदिशाओं में देखा, ऊपर देखा, नीचे देखा। आवाज सुनाई पड़ी थी किन्तु आवाज देने वाला अदृश्य था। कुछ समय तक उसने विचार किया और फिर मन ही मन निश्चय कर लिया— यह कोई देव वाणी होगी। कुछ क्षण रुककर वह दक्षिण दिशा की ओर चलने लगा। राजकुमार चलता जाता और चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ाता जाता। चमत्कार ही तो दिखाई दे रहा था उसे। सहज शत्रु सिंह-मृग, सर्प-नेवला, मूषक-विडाल, बाज-कपोत आदि पशु-पक्षी मित्र भाव से साथ-साथ बैठे थे। सिंह-शावक मृग-छौनों से कुलेल कर रहे थे। कुमार के हृदय में विचार आया– अवश्य ही यहाँ कोई परम तपस्वी मुनि विराजमान हैं, अन्यथा सहज शत्रु भी मित्रवत् व्यवहार कैसे करते? इनकी शत्रुता का कलुष कैसे धुलता? ऐसे विचारों में निमग्न विध्याटवी की शोभा देखता हुआ कुमार आगे बढ़ता रहा।

उसे एक शिला पर विराजमान मुनिश्री के दर्शन हुए। मुनि का शरीर तो क्षीण था किन्तु आत्म-तेज झलक रहा था। उनकी शांत मुख मुद्रा ने कुमार के हृदय को प्रफुल्लित कर दिया। मुनिश्री की बायीं ओर एक शुभलक्षण संपन्न पुरुष बैठा था। उसका विशाल वक्ष, आजानुबाहु, उन्नत ललाट और बलिष्ठ देह यष्टि उसके उच्च कुल के होने का स्पष्ट प्रमाण थी। कुमार ने दायीं ओर दृष्टि डाली तो उसे वहाँ एक सिंह बैठा दिखाई दिया। बायीं ओर नरेन्द्र और दायीं ओर मृगेन्द्र— कैसा विचित्र संयोग था। दोनों ही शांत और विनम्र! अहो मुनिराज की उत्तम शांति की कैसी महिमा! कैसी धर्म प्रभावना!!

ज्यों ही कुमार समीप पहुँचा, मुनिश्री ने कहा—

आओ, चन्द्रवंश के विभूषण कुमार कुवलयचन्द्र!

मुनिश्री के वचन सुनकर कुमार को उनके दिव्यज्ञानी होने का निश्चय हो गया। उसने आगे बढ़कर भक्ति-भावपूर्वक वन्दना की और नीचे बैठ गया। उसके मन में अश्व सम्बन्धी प्रश्न उठने लगे— मेरा अपहरण क्यों हुआ? अश्व साधारण पशु था तो उड़ा कैसे और यदि देव माया थी तो मर क्यों गया?

मुनिश्री ने कुमार के हृदयगत भावों को जान लिया। उन्होंने मंद स्मितपूर्वक कहा—

अश्व सम्बन्धी विचार-मंथन चल रहा है तुम्हारे हृदय में। विनम्र शब्दों में कुमार ने बताया—

आपका कथन यथार्थ है, गुरुदेव!

जिज्ञासा का समाधान भी चाहते हो?

बड़ी कृपा होगी, पूज्यश्री! कुमार ने अपनी इच्छा व्यक्त कर दी।

मुनिराज कहने लगे—

कुमार! जीवन की कोई भी घटना अकारण नहीं होती। जिस बात का कारण इस जीवन में नहीं मिलता उसका सूत्र पूर्व-जन्म से जुड़ा रहता है। संसार के सभी प्राणी, अपने कृतकर्मों का फल भोगते

हैं। तुम्हारा भी अपहरण अकारण नहीं हुआ। इसका कारण तुम्हारे सुदूर अतीत में–पूर्व-जन्म में छिपा हुआ है।

वहीं जानना चाहता हूँ, महाराजश्री! विस्तार से बताइए। कुमार की जिज्ञासा और भी गहरी हो गई।

मुनिश्री ने कहा—

घटना क्रम विस्तृत है, कुवलयचन्द्र! ध्यानपूर्वक एकाग्रचित्त होकर सुनो।

कुवलयचन्द्र एकाग्रचित्त होकर सुनने को प्रस्तुत हुआ तो मुनिश्री कहने लगे—

बहुत समय पहले वत्स देश की कौशाम्बी नगरी पर राजा पुरंदरदत्त राज्य करता था। पुरंदरदत्त यों तो कुशल और योग्य प्रशासक था, प्रजा भी उसके सुशासन में सुखी थी, नगरी भी अमरपुरी इन्द्र की राजधानी से होड़ करती थी, समृद्धि और ऐश्वर्य में; किन्तु राजा जिन-वचनों पर श्रद्धा नहीं रखता था। वह धर्म-विद्वेषी नहीं था तो धर्मानुरानी भी नहीं था।

राजा पुरंदरदत्त का प्रधान अमात्य वासव बहुत ही योग्य, कुशल और जिनधर्मानुरागी था। वासव की कुशलता और अन्य सामंतो, सुभटों एवं अधिकारियों की सहायता से शासन-कार्य भली भाँति चल रहा था। राजा और प्रजा सभी चैन की वंशी बजा रहे थे।

एक दिन मंत्री वासव प्रातःकालीन सामायिक-प्रतिक्रमण हेतु स्नानादि से शुद्ध होकर उपाश्रय के दरवाजे पर पहुँचा ही था कि उद्यानपालक स्थावर ने आकर प्रणाम किया और कुछ पुष्प देते हुए निवेदन किया—

मंत्रीजी! जन-जन के मन को प्रफुल्लित करने वाले वसन्त का आगमन हो गया है। यह ऋतु पुष्प आपको अर्पित हैं।

मंत्री ने पुष्प ले लिए। वह जल्दी में था अतः उसकी इच्छा थी कि उद्यानपालन शीघ्र ही चला जाय; किन्तु स्थावर गया नहीं, वह कुछ और भी कहना चाहता था। मंत्री ने पूछा—

कुछ और भी कहना चाहते हो?

हाँ, अपने शिष्य समुदाय सहित आचार्य धर्मनन्दन पधारे हैं। वे उद्यान में विराजमान हैं।

आचार्यश्री का नाम सुनते ही मंत्री ने वहीं से भाव-वन्द्रंन किया और फिर उद्यानपालक की मूर्खता पर उसे फटकारते हुए बोला—

अरे मूर्ख! इतना भी नहीं जानता कि कौन-सा समाचार पहले देना चाहिए और कौन-सा बाद में। कहाँ सुर-नरों से पूजित आचार्यश्री और कहाँ कामोद्दीपक–संसार में फँसाने वाली वसन्त ऋतु? कहाँ जगत से उद्धार करने वाले पूज्य आचार्य और कहाँ वसन्त? तुझे इस अपराध का दण्ड मिलना ही चाहिए।

उद्यानपालक काँप गया। उसने अपनी भूल अनुभव की—

क्षमा, मंत्रीश्वर! मैं अनार्य महाराजश्री का महत्त्व न समझ सका।

आगे से ऐसी भूल न हो, इसलिए तुम्हें एक लाख ताम्र मुद्राएँ ही मिलेंगी; अन्यथा आचार्यश्री के आगमन की सूचना देने पर तुम्हें एक लाख स्वर्ण-मुद्राओं का पारितोषिक प्राप्त होता। मंत्री ने दण्ड घोषित कर दिया।

स्थावर उदास हो गया। मंत्री ने पुनः समझाया—

स्थावर! श्रमणों के दर्शन बड़े भाग्य से होते हैं और बसन्त तो हर वर्ष आ जाता है। आगे से इस अन्तर का ध्यान रखना।

उद्यानपालक ने अपनी भूल समझी और मंत्री को प्रणाम करके चला गया।

मंत्री ने स्थिर एवं प्रफुल्लचित्त से सामायिक-प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाएँ की और पुष्प-करंडिया (गुलदस्ता) लेकर राजमहल की ओर चल दिया। राजा को वसन्तागमन की सूचना देने के साथ-साथ उसके मन में एक और योजना भी थी। इसी कारण वह दुगुना प्रसन्न था।

राजा को पुष्प करंडिया (गुलदस्ता) भेंट करके मन्त्री वासव बोला—

महाराज! ये पुष्प वसन्त आगमन के सूचक हैं।

राजा पुरन्दर पुष्पों को देखकर हर्षित हुआ और बोला—

बसन्तोत्सव मनाने की तैयारियाँ कराइये, मंत्रीश्वर!

राजाज्ञा से वसंतोत्सव मनाया जाने लगा। समस्त प्रजा ही मानो उद्यान में खिंच आई। राजा भी अपने परिकर और परिवार सहित पहुँचा। सभी आनन्दमग्न थे और भाँति-भाँति की क्रीड़ाएँ करते हुए प्रफुल्लित हो रहे थे।

उद्यान भ्रमण करते-करते राजा अपने मन्त्री वासव के साथ एक ओर को निकल गया। या यों समझिये कि मन्त्री ही बातें करते-करते उसे उधर ले आया। राजा को सामने ही एक शिला पर आचार्य धर्मनन्दन दिखाई दिये। पूज्यश्री की शांत मूर्ति से राजा बहुत प्रभावित हुआ। उसने मंत्री से पूछा—

यह कौन महानुभाव है?

चलकर स्वयं ही देख लेते हैं। मन्त्री ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

राजा और मन्त्री दोनों आचार्यश्री के समीप पहुँचे। मन्त्री ने भक्तिपूर्वक वन्दना की और राजा ने भी उसका अनुकरण किया। अन्य लोग भी आ बैठे। चारों दिशाओं से पाँच मनुष्य भी आए और वन्दन करके श्रद्धा सहित बैठ गए।

पुरंदरदत्त के हृदय में आचार्यश्री से उनके वैराग्य का कारण जानने की जिज्ञासा बलवती हो रही थी किन्तु पूछने का साहस न हो रहा था। कभी विचार आता पूछ ही लूँ तभी दूसरा विचार आ जाता--इतने लोगों में ऐसा प्रश्न पूछने पर हँसी न हो। फिर किसी का रहस्य सार्वजनिक सभा में पूछना उचित भी तो नहीं है। न जाने किस कष्ट, अभाव, दुःख और पीड़ा के कारण इन्होंने वैराग्य लिया हो। यदि इन्होंने न बताया तो मुझे दुःख होगा। अतः न पूछना ही ठीक है। राजा

इन विचारों में डूब उतरा ही रहा था कि आचार्यश्री का धीर-गम्भीर स्वर सुनाई दिया—

इस संसार में निर्वेद और वैराग्य के हेतुओं का कोई अभाव नहीं है। यह चतुर्गति रूप संसार ऐसे हेतुओं से भरा पड़ा है। यहाँ दुःख ही दुःख है और जो कुछ भी सुख अनुभव में आता है, वह भी क्षण भंगुर और इन्द्रियजनित है, सुख नहीं सुखाभास है।

राजा ने प्रश्न किया—

स्वर्गों में तो सुख ही सुख है, सभी धर्मशास्त्र ऐसा ही कहते हैं फिर आप चारों गतियों में दुःख ही दुःख क्यों बता रहे हैं?

मुनिश्री ने बताया—

यद्यपि मनुष्य गति की अपेक्षा वहाँ सुखों की मात्रा अधिक है फिर भी वहाँ पूर्ण और निराबाध सुख नहीं है। वहाँ भी अल्पऋद्धि वाले देव महाऋद्धि वालों के अधीन रहते हैं, अतः पराधीनता का दुःख है। कम् ऋद्धि वाले अधिक ऋद्धि वालों से ईर्ष्या रखते हैं अतः ईर्ष्याजन्य पीड़ा है। फिर जब आयु क्षीण होने लगती है तो दिव्य सुख-भोगों के छूट जाने की सम्भावना से देवों का हृदय विंध जाता है और उन्हें कल्पान्त के समान ही घोर कष्ट होता है।

देवगति के अतिरिक्त मानव और तिर्यंच गति के दुःख तो स्पष्ट ही दिखाई देते हैं। मनुष्य गति में स्वजन-परिजनों का वियोग, सम्पत्ति का विनाश, रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु का भय सर्वत्र व्याप्त है।

पशुगति के दुःख तो प्रत्यक्ष हैं ही। पालतू पशु घोड़ा-बैल, गधा आदि दिनभर बोझा ढोते हैं, पिटते-कुटते हैं और फिर भी उन्हें घास-फूस ही खाने को मिलता है। सर्दी, गर्मी आदि से उनकी रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं होता। वन्य पशुओं के तो प्राण ही सदैव संकट में रहते हैं। एक दूसरे के सहज शत्रु सदा ही उनका हनन करने को तत्पर रहते हैं। अकारण ही सिंह मृग को मार देता है और नेवला विषधर सर्प के खंड-खंड कर डालता है। पक्षियों में भी एक-दूसरे के शत्रु मौजूद हैं।

नरक गति तो दुःख की खानि ही है। मनुष्य, देव और तिर्यंच गति में तो सुख की साँस मिल भी जाती है किन्तु नरक में तो क्षणमात्र का भी सुख नहीं है। पृथ्वी तल के नीचे नरकावास हैं, जहाँ सूर्य-चन्द्र आदि की किरणें भी नहीं पहुँच पाती। रात-दिन का भेद ही नहीं है। सदैव और सर्वत्र घोर अंधेरा व्याप्त रहता है। रक्त-पीव की नदियाँ बहती रहती हैं। दुर्गन्ध के मारे नारकी जीव को चैन नहीं पड़ता। वहाँ के भयंकर कष्टों से वह बहुत पीड़ित रहता है। क्षुधा और तृष्णा की वेदना इतनी तीव्र होती है कि तीनों लोकों के अन्न और जल से भी तृप्त नहीं हो सकती। फिर भी उसे न एक बूंद जल मिलता है और न एक दाना अन्न का। इस जीव को लाखों-करोड़ों वर्षों तक नरकों के ये असह्य दुःख सहने पड़ते हैं।

इतने दुःखों और इस चतुर्गति रूपी दुःखमय जगत में निर्वेद और वैराग्य के हेतुओं का क्या अभाव हो सकता है?

मुनिश्री की वाणी राजा पुरंदरदत्त के हृदय में समाती चली गई। उसने पूछा—

गुरुदेव! मैं इन गतियों के दुःखों को तो समझ गया, मुझे विश्वास भी हो गया। अब आप मेरे हित की शिक्षा दीजिए। मुझे बताइये कि मेरा क्या कर्तव्य है।

आचार्य धर्मनन्दन ने कहा—

राजन्! सज्जन पुरुषों का पराभव, दुर्जनों से मैत्री, मिथ्या भाषण, आदि कर्म कभी न करने चाहिए। इसके अतिरिक्त देव-धर्म की आराधना और गुरु की उपासना सदैव करनी चाहिए। जीव दया का पालन करो। परदारा, अभिमान, आदि का त्याग करो। परिग्रह में लोलुपता न करो। क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि यही आत्मा की दुर्गति के प्रमुख कारण है।

राजा पुरंदरदत्त मुनिवचनों पर मनन करने लगा।

क्रमशः

JAIN BHAWAN PUBLICATIONS

P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone: 2268 2655

English :

1.	Bhagavati-sutra-Text edited with English translation by K. C. Lalwani in 4 volumes:		
	Vol - 1 (satakas 1- 2)	Price : Rs.	150.00
	Vol - 2 (satakas 3- 6)		150.00
	Vol - 3 (satakas 7- 8)		150.00
	Vol - 4 (satakas 9- 11)		150.00
2.	James Burges - The Temples of Satrunjaya. Jain Bhawan. Kolkata ; 1977. pp. x+82 with 45 plates (It is the glorification of the sacred mountain Satrunjaya.)	Price : Rs.	100.00
3.	P. C. Samsukha - Essence of Jainism translated by Ganesh Lalwani.	Price : Rs.	15.00
4.	Ganesh Lalwani - Thus Sayeth Our Lord,	Price : Rs.	15.00
5.	Verses from Cidananda. Translated by Ganesh Lalwani	Price : Rs.	15.00
6.	Ganesh Lalwani - Jainthology	Price : Rs.	100.00
7.	Lalwani and S. R. Banerjee- Weber's Sacred Literature of the Jains	Price : Rs.	100.00
8.	Prof. S. R. Banerjee Jainism in Different States of India	Price : Rs.	100.00
9.	Prof. S. R. Banerjee Introducing Jainism	Price : Rs.	
10.	Smt. Lata Bothra- The Harmony Within	Price : Rs.	100.00
11.	Smt. Lata Bothra- From Vardhamana- to Mahavira	Price : Rs.	100.00
12.	Smt. Lata Bothra- An Image of- Antiquity	Price : Rs.	100.00

Hindi :

1.	Ganesh Lalwani - Atimukta (2nd edn) Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	40.00
2.	Ganesh Lalwani - Sraman Samskriti Ki Kavita, Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	20.00
3.	Ganesh Lalwani - Nilanjana, Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	30.00
4.	Ganesh Lalwani - Chandan-Murti Translated by Shrimati Rajkumari Begani		Price : Rs. 50.00
5.	Ganesh Lalwani-Vardhaman Mahavira	Price : Rs.	60.00

6.	Ganesh Lalwani-Barsat kí Ek Raat,	Price : Rs.	45.00
7.	Ganesh Lalwani -- Panchdasi.	Price : Rs.	100.00
8.	Rajkumari Begani-Yado ke Aine me.	Price : Rs.	30.00
9.	Dr. Lata Bothra - Bhagavan Mahavira Aur Prajatantra	Price : Rs.	15 00
10.	Dr. Lata Bothra - Sanskriti Ka Adi Shrote, Jain Dharm	Price : Rs.	24.00
11.	Prof. S.R. Banerjee - Prakrit Vyakarana Praveshika	Price : Rs.	20.00
12.	Dr. Lata Bothra - Adinath Risabdev Aur Asthapad	Price : Rs.	250.00
13.	Dr. Lata Bothra - Astapad Yatra	Price : Rs.	50.00
14.	Dr. Lata Bothra - Aatm Darsan	Price : Rs.	50.00
15.	Dr. Lata Bothra - Varanbhumi Bengal	Price : Rs.	50.00
16.	Dr. Lata Bothra - Tatva Bodh	Price : Rs.	

Bengali :

1.	Ganesh Lalwani-Atimukta,	Price : Rs.	40.00
2.	Ganesh Lalwani-Sraman Sanskriti ki Kavita	Price : Rs.	20.00
3.	Puran Chand Shymsukha-Bhagavan Mahavir O Jaina Dharma.	Price : Rs.	15.00
4.	Prof. Satya Ranjan Banerjee Prasnottare Jaina-Dharma	Price : Rs.	20.00
5.	Dr. Jagatram Bhattacharya Das Baikalik Sutra	Price : Rs.	25.00
6.	Prof. Satya Ranjan Banerjee Mahavir Kathamrita	Price : Rs.	20.00
7.	Sri Yudhishthir Majhi Sarak Sanskriti O Puruliar Purakirti	Price : Rs.	20.00

Some Other Publications :

1.	Dr. Lata Bothra - Vardhamana Kaise Bane Mahavir	Price : Rs.	15.00
2.	Dr. Lata Bothra - Kesar Kyari Me Mahakta Jain Darshan	Price : Rs.	10.00
3.	Dr. Lata Bothra - Bharat Me Jain Dharma	Price : Rs.	100.00
4.	Acharya Nanesh - Samata Darshan Aur Vyavhar (Bengali)	Price : Rs.	
5.	Shri Suyesh Muniji - Jain Dharma Aur Shasnavali (Bengali)	Price : Rs.	50.00
6.	K.C.Lalwani - Sraman Bhagwan Mahavira	Price : Rs.	25.00

मोह रहित मनुष्य दुःख मुक्त है।

B JAIN JEWELLERS Since 1926

B.C. JAIN JEWELLERS PVT. LTD.

22, Camac Street
3rd floor, Block-A
Kolkata - 700 017
Phone : 2283-6203/6204/0056
Fax : 2283-6643
Resi : 2358-6901,2359-5054

TITTHAYARA
Vol XXXV No.07
25th October 2011

Registered
No. KOL.RMS / 070/2010-12
R.N.I. 30181/77

सभी प्राणियों के लिये मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ होता है,
क्योंकि बुरे कर्मों का फल निश्चय ही मिलता है
अतः मनुष्य को क्षण भर भी प्रमाद न कर
शुभ कार्यों में तत्पर रहना चाहिये।

Kamal Singh Rampuria
Rampuria Mansions
17/3, Mukhram Kanoria Road, Howrah
Phone No. : 2666-7212/7225